२४ जैन, बौद्ध और गीता के दर्शन में कर्म का स्वरूप

☐ डॉ. सागरमल जैन

कर्म का अशुभत्व, शुभत्व एवं शुद्धत्व :

यद्यपि जैन दृष्टि से 'कर्मणा बध्यतेजन्तुः' की उक्ति ठीक है लेकिन जैनाचार दर्शन में सभी कर्म अथवा क्रियाएँ समान रूप से बन्धन कारक नहीं हैं। उसमें दो प्रकार के कर्म माने गये हैं, एक को कर्म कहा गया है दूसरे को अकर्म, समस्त साम्परायिक क्रियाएँ कर्म की श्रेणी में आती हैं और इर्यापथिक क्रियाएँ अकर्म की श्रेणी में आती हैं। यदि नैतिक दर्शन की दृष्टि से विचार करें तो प्रथम प्रकार के कर्म ही नैतिकता के क्षेत्र में आते हैं और दूसरे प्रकार के कर्म नैतिकता के क्षेत्र से परे हैं। उन्हें अतिनैतिक कहा जा सकता है। लेकिन नैतिकता के क्षेत्र में आने वाले सभी कर्म भी एक समान नहीं होते हैं उनमें से कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते हैं। जैन परिभाषा में इन्हें क्रमशः पुण्य कर्म और पाप कर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैन विचारणा के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं—१. इर्यापथिक कर्म (अकर्म), २. पुण्य कर्म और ३. पाप कर्म। बौद्ध विचारणा में भी तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं—१. अव्यक्त या अकृष्ण अशुक्ल कर्म, २. कुशल या शुक्ल कर्म और ३. अकुशल या कृष्णकर्म। गीता भी तीन प्रकार के कर्म बताती है—१. अकर्म, २. कर्म (कुशल कर्म) और ३. विकर्म (अकुशल कर्म) जैन विचारणा का इर्यापथिक कर्म बौद्ध दर्शन का अव्यक्त या अकृष्ण-अकुशल अशुक्ल कर्म तथा गीता का अकर्म है। इसी प्रकार जैन विचारणा का पुण्य कर्म बौद्ध दर्शन का कुशल (शुक्ल) कर्म तथा गीता का सकाम सात्विक कर्म या कुशल कर्म और जैन विचारणा का पाप कर्म बौद्ध दर्शन का अकुशल (कृष्ण) कर्म तथा गीता का विकर्म है।

पाश्चात्य नैतिक दर्शन की दृष्टि से भी कर्म तीन प्रकार के होते हैं—१. अतिनैतिक, २. नैतिक, ३. अनैतिक। जैन विचारणा का इर्यापथिक कर्म अतिनैतिक कर्म है, पुण्य कर्म नैतिक कर्म है, और पाप कर्म अनैतिक कर्म है। गीता का अकर्म अतिनैतिक शुभ कर्म या कर्म नैतिक और विकर्म अनैतिक है। बौद्ध विचारणा में अनैतिक, नैतिक और अतिनैतिक कर्म को क्रमशः अकुशल, कुशल और अव्यक्त कर्म अथवा कृष्ण, शुक्ल और अकृष्ण, अशुक्ल कर्म कहा गया है। इन्हें निम्न तुलनात्मक तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है :—

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म	पाश्चात्य आचार दर्शन	जैन	बौद्ध	गीता
१.	शुद्ध अतिनैतिक कर्म	इर्यापथिक कर्म	अव्यक्त कर्म	अकर्म
२.	शुभ नैतिक कर्म	पुण्य कर्म	कुशल (शुक्ल) कर्म	कर्म (कुशल कर्म)
३.	अशुभ अनैतिक कर्म	पाप कर्म	अकुशल (कृष्ण) कर्म	विकर्म

आध्यात्मिक या नैतिक पूर्णता के लिए हमें क्रमशः अशुभ कर्मों से शुभ कर्मों की ओर, शुभ कर्मों से शुद्ध कर्मों की ओर बढ़ना होगा। आगे हम इसी क्रम से उन पर थोड़ी अधिक गहराई से विवेचन करेंगे।

अशुभ या पाप कर्म :

जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा दी है कि वैयक्तिक सन्दर्भ में जो आत्मा को बंधन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्म शक्तियों का क्षय करे वह पाप है।[1] सामाजिक सन्दर्भ में जो परपीड़ा या दूसरों के दुःख का कारण हो वह पाप है (पापाय परपीड़न) वस्तुतः जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिसका फल अनिष्ट प्राप्ति हो वह पाप है। नैतिक जीवन की दृष्टि से वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किए जाते हैं पाप कर्म हैं। मात्र इतना ही नहीं सभी प्रकार का दुर्विचार और दुर्भावनाएँ भी पाप कर्म हैं।

पाप या अकुशल कर्मों का वर्गीकरण :

जैन दार्शनिकों के अनुसार पाप कर्म १८ प्रकार के हैं :—१. प्राणातिपात-हिंसा, २. मृषावाद–असत्य भाषण, ३. अदत्तादान–चौर्य कर्म, ४. मैथुन–काम विकार या लैंगिक प्रवृत्ति, ५. परिग्रह–ममत्व, मूर्छा, तृष्णा या संचय वृत्ति, ६. क्रोध–गुस्सा, ७. मान–अहंकार, ८. माया–कपट, छल, षडयंत्र और कूटनीति, ९. लोभ–संचय या संग्रह की वृत्ति, १०. राग–आसक्ति, ११. द्वेष–घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि, १२. क्लेश–संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि, १३. अभ्याख्यान–दोषारोपण, १४. पिशुनता–चुगली, १५. परपरिवाद–परनिंदा, १६. रति-अरति–हर्ष और शोक, १७. माया मृषा–कपट सहित असत्य भाषण, १८. मिथ्यादर्शनशल्य–अयथार्थ श्रद्धा या जीवन दृष्टि।[2]

१—अभि० रा० खण्ड ५, पृष्ठ ८७६।

२—बोल संग्रह, भाग ३, पृष्ठ १८२।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध दृष्टिकोण :

बौद्ध दर्शन में कायिक, वाचिक और मानसिक आधार पर निम्न १० प्रकार के पापों या अकुशल कर्मों का वर्णन मिलता है :—[1]

(अ) **कायिक पाप** : १. प्राणातिपात–हिंसा, २. अदन्नादान–चोरी या स्तेय, ३. कामेसु–मिच्छाचार, कामभोग सम्बन्धी दुराचार,

(ब) **वाचिक पाप** : ४. मृषावाद–असत्य भाषण, ५. पिसुनावाचा–पिशुन वचन, ६. परुसावाचा–कठोर वचन, ७. सम्फलाप–व्यर्थ आलाप,

(स) **मानसिक पाप** : ८. अभिज्जा–लोभ, ९. व्यापाद–मानसिक हिंसा या अहित चिंतन, १०. मिच्छादिट्ठी–मिथ्या दृष्टिकोण।

अभिधम्म संगाहो में निम्न १४ अकुशल चैतसिक बताए गए हैं : १. मोह–चित्त का अन्धापन, मूढ़ता, २. अहिरिक–निर्लज्जता, ३. अनोत्तपयं–अ-भीक्तता (पाप कर्म में भय न मानना)[2], ४. उद्धच्चं–उद्धतपन, चंचलता, ५. लोभो–तृष्णा, ६. दिट्ठि–मिथ्या–दृष्टि, ७. मानो–अहंकार, ८. दोसो–द्वेष, ९. इस्सा–ईर्ष्या (दूसरे की सम्पत्ति को न सह सकना), १०. मच्छरियं–मात्स्पर्य (अपनी सम्पत्ति को छिपाने की प्रवृत्ति), ११. कुक्कुच्च–कौकृत्य (कृत-अकृत के बारे में पश्चात्ताप), १२. थीनं, १३. मिद्धं, १४. विचिकिच्छा–विचिकित्सा (संशयालुपल)।

गीता का दृष्टिकोण :

गीता में भी जैन और बौद्ध दर्शन में स्वीकृत इन पापाचरणों या विकर्मों का उल्लेख सम्पदा के रूप में किया गया है। 'गीता रहस्य' में तिलक ने मनु स्मृति के आधार पर निम्न दस प्रकार के पापाचरण का वर्णन किया है।[3]

(अ) **कायिक** : १. हिंस, २. चोरी, ३. व्यभिचार।

(ब) **वाचिक** : ४. मिथ्या (असत्य), ५. ताना मारना, ६. कटुवचन, ७. असंगत बोलना।

(स) **मानसिक** : ८. परद्रव्य अभिलाषा, ९. अहित चिन्तन, १०. व्यर्थ आग्रह।

१—बौद्ध भा० व०, पृष्ठ ४८०।

२—अभिधम्मत्थ संगहो, पृष्ठ १९-२०।

३—मनुस्मृति १२/५-७।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पाप के कारण :

जैन विचारकों के अनुसार पापकर्म की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं :—१. राग या स्वार्थ, २. द्वेष या घृणा और ३. मोह या अज्ञान। प्राणी राग, द्वेष और मोह से ही पाप कर्म करता है। बुद्ध के अनुसार भी पाप कर्म की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं—१. लोभ (राग), २. द्वेष और ३. मोह। गीता के अनुसार काम (राग) और क्रोध ही पाप के कारण हैं।

पुण्य (कुशल कर्म) :

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एवं भौतिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश के मध्य सन्तुलन बनाना यह पुण्य का कार्य है। पुण्य क्या है इसकी व्याख्या में तत्वार्थ सूत्रकार कहते हैं—शुभास्रय पुण्य है।[1] लेकिन जैसा कि हमने देखा पुण्य मात्र आस्रव नहीं है वरन् वह बन्ध और विपाक भी है। दूसरे वह मात्र बन्धन या हेय ही नहीं है वरन् उपादेय भी है। अतः अनेक आचार्यों ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र पुण्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—पुण्य (अशुभ) कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है।[2] इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में पुण्य अशुभ (पाप) कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। पुण्य के निर्वाण की उपलब्धि में सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानांग सूत्र की टीका में मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।[3] आचार्य की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधना में सहायक तत्त्व है। मुनि सुशीलकुमार 'जैन धर्म' नामक पुस्तक में लिखते हैं—पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिये अनुकूल वायु है जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार कर देती है। जैन कवि बनारसीदासजी कहते हैं जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा ऊर्ध्वमुखी होता है अर्थात् आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है और जिससे इस संसार में भौतिक-समृद्धि और सुख मिलता है वही पुण्य है।[4]

जैन तत्त्व ज्ञान के अनुसार पुण्य कर्म के अनुसार पुण्य कर्म वे शुभ पुद्गल परमाणु हैं जो शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायों, शुभ

१—तत्त्वार्थ०, पृष्ठ ६/४।
२—योगशास्त्र ४/१०७।
३—स्थानांग टी. १/११-१२।
४—जैन धर्म, पृष्ठ ८४-१०।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एवं क्रियाएँ भी जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती हैं भी पुण्य कहलाती हैं। साथ ही दूसरी ओर वे पुद्गल परमाणु जो इन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्पत्ति एवं सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियाँ भाव पुण्य हैं और शुभ पुद्गल परमाणु द्रव्य पुण्य हैं।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण :

भगवती सूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ प्रवृत्तियों को पुण्योपार्जन का कारण माना है।[1] स्थानांग सूत्र में नव प्रकार के पुण्य बताए गए हैं।[2]

१.	अन्न पुण्य	: भोजनादि देकर क्षुधार्त्त की क्षुधा निवृत्ति करना।
२.	पान पुण्य	: तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।
३.	लयन पुण्य	: निवास के लिये स्थान देना, धर्मशालाएँ आदि बनवाना।
४.	शयन पुण्य	: शय्या, बिछौना आदि देना।
५.	वस्त्र पुण्य	: वस्त्र का दान देना।
६.	मन पुण्य	: मन से शुभ विचार करना। जगत के मंगल की शुभ कामना करना।
७.	वचन पुण्य	: प्रशस्त एवं संतोष देने वाली वाणी का प्रयोग करना।
८.	काय पुण्य	: रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।
९.	नमस्कार पुण्य	: गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

बौद्ध आचार दर्शन में भी पुण्य के इस दानात्मक स्वरूप की चर्चा मिलती है। संयुक्त निकाय में कहा गया है—अन्न, पान, वस्त्र, शय्या, आसन एवं चादर के दानी पण्डित पुरुष में पुण्य की धाराएँ आ गिरती हैं। अभिधम्मत्थ संगहो में (१) श्रद्धा, (२) अप्रमत्तता (स्मृति), (३) पाप कर्म के प्रति लज्जा, (४) पाप कर्म के प्रति भय, (५) अलोभ (त्याग), (६) अद्वेष-मैत्री, (७) समभाव, (८-९) मन और शरीर की प्रसन्नता, (१०-११) मन और शरीर का हलकापन, (१२-१३) मन और शरीर की मृदुता, (१४-१५) मन और शरीर की सरलता आदि को भी कुशल चैतसिक कहा गया है।[3]

१—भगवती, ७/१०/१२। २—स्थानांग ९।

३—अभिधम्मत्थ संगहो (चैतसिक विभाग)।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन और बौद्ध विचारणा में पुण्य के स्वरूप को लेकर विशेष अन्तर यह है। जैन विचारणा में संवर, निजरा और पुण्य में अन्तर किया गया है। जबकि बौद्ध विचारणा में ऐसा स्पष्ट अन्तर नहीं है। जैनाचार दर्शन में सम्यक् दर्शन, (श्रद्धा) सम्यक् ज्ञान, (प्रज्ञा) और सम्यक् चारित्र (शील) को संवर और निर्जरा के अन्तर्गत माना गया है। जबकि बौद्ध आचार दर्शन में धर्म, संघ और बुद्ध के प्रति दृढ़ श्रद्धा, शील और प्रज्ञा को भी पुण्य (कुशल कर्म) के अन्तर्गत माना गया है।

पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी :

शुभाशुभता या पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं। (१) कर्म का बाह्य स्वरूप तथा समाज पर उसका प्रभाव, (२) दूसरा कर्ता का अभिप्राय। इन दोनों में कौन सा आधार यथार्थ है यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया। गीता स्पष्ट रूप से कहती है जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह इन सब लोगों को मार भी डाले तथापि यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन में आता है।[१] धम्मपद में बुद्ध वचन भी ऐसा ही है। नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजा सहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जीता है।[२] बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही पुण्य पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्रकृतांग सूत्र के आद्रक बौद्ध सम्वाद में भी मिलता है।[३] जहाँ तक जैन मान्यता का प्रश्न है विद्वानों के अनुसार उसमें भी कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का आधार माना गया है। मुनि सुशीलकुमारजी लिखते हैं—शुभ-अशुभ कर्म के बंध का मुख्य आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं। एक डॉक्टर किसी को पीड़ा पहुँचाने के लिए उसका व्रण चीरता है, उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाए परन्तु डॉक्टर तो पाप कर्म के बन्ध का ही भागी होगा। इसके विपरीत वही डॉक्टर करुणा से प्रेरित होकर व्रण चीरता है और कदाचित उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है तो भी डॉक्टर अपनी शुभ भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।[४] प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी भी यही कहते हैं—पुण्य बन्ध और पाप बन्ध की सच्ची कसौटी केवल ऊपर की क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है।[५]

१—गीता १८/१७।

२—धम्मपद २४६।

३—सूत्रकृतांग २/६/२७-४२।

४—जैन धर्म, पृष्ठ १६०।

५—दर्शन और चिन्तन : खण्ड २, पृष्ठ २२६।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इन कथनों के आधार पर तो यह स्पष्ट है कि जैन विचारणा में भी कर्मों की शुभाशुभता के निर्णय का आधार मनोवृत्तियों हो हैं। फिर भी जैन विचारणा में कर्म का बाह्य स्वरूप उपेक्षित नहीं है। यद्यपि निश्चय दृष्टि की अपेक्षा से मनोवृत्तियाँ ही कर्मों की शुभाशुभता को निर्णायक हैं तथापि व्यवहार दृष्टि में कर्म का बाह्य स्वरूप ही सामान्यतया शुभाशुभता का निश्चय करता है। सूत्रकृतांग में आर्द्रककुमार बौद्धों की एकांगी धारणा का निरसन करते हुए कहते हैं जो मांस खाता हो चाहे न जानते हुए भी खाता हो तो भी उसको पाप लगता ही है। हम जानकर नहीं खाते इसलिए हम को दोष (पाप) नहीं लगता ऐसा कहना एकदम असत्य नहीं तो क्या है ?[1]

इससे यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दृष्टि में मनोवृत्ति के साथ ही कर्मों का बाह्य स्वरूप भी शुभाशुभता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में सामाजिक दृष्टि या लोक व्यवहार में तो यही प्रमुख निर्णायक होता है। सामाजिक न्याय में तो कर्म का बाह्य स्वरूप ही उसकी शुभाशुभता का निश्चय करता है क्योंकि आन्तरिक वृत्ति को व्यक्ति स्वयं जान सकता है दूसरा नहीं। जैन दृष्टि एकांगी नहीं है। वह समन्वयवादी और सापेक्षवादी है। वह व्यक्ति सापेक्ष होकर मनोवृत्ति को कर्मों की शुभाशुभता का निर्णायक मानती है और समाज सापेक्ष होकर कर्मों के बाह्य स्वरूप पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करती है। उसमें द्रव्य (बाह्य) और भाव (आंतरिक) दोनों का मूल्य है। उसमें योग (बाह्य क्रिया) और भाव (मनोवृत्ति) दोनों ही बन्धन के कारण माने गये हैं, यद्यपि उसमें मनोवृत्ति ही प्रबल कारण है। वह वृत्ति और क्रिया में विभेद नहीं मानती है। उसकी समन्वयवादी दृष्टि में मनोवृत्ति शुभ हो और क्रिया अशुभ हो, यह सम्भव नहीं है। मन में शुभ भाव होते हुए पापाचरण सम्भव नहीं है। वह एक समालोचक दृष्टि से कहती है मन में सत्य को समझते हुए भी बाहर से दूसरी बातें (अशुभाचरण) करना क्या संयमी पुरुषों का लक्षण है ? उसकी दृष्टि में सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर आत्म-प्रवंचना और लोक छलना है। मानसिक हेतु पर ही जोर देने वाली धारणा का निरसन करते हुए सूत्रकृतांग में कहा गया है—कर्म बन्धन का सत्य ज्ञान नहीं बताने वाले इस वाद को मानने वाले कितने ही लोग संसार में फंसते रहते हैं कि पाप लगने के तीन स्थान हैं स्वयं करने से, दूसरे से कराने से, दूसरों के कार्य का अनुमोदन करने से। परन्तु यदि हृदय पाप मुक्त हो तो इन तीनों के करने पर भी निर्वाण अवश्य मिले। यह वाद अज्ञान है, मन से पाप को पाप समझते हुए जो दोष करता है, उसे निर्दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह संयम (वासना निग्रह) में शिथिल है। परन्तु भोगासक्त लोग उक्त बातें मानकर पाप में पड़े रहते हैं।[2]

१—सूत्रकृतांग २/६/२७–४२। २—सूत्रकृतांग १/१/२४–२७–२९।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पाश्चात्य आचार दर्शन में भी सुखवादी विचारक कम की फलश्रुति के आधार पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करते हैं जबकि मार्टिन्यू कर्म प्रेरक पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करता है। जैन विचारणा के अनुसार इन दोनों पाश्चात्य विचारणाओं में अपूर्ण सत्य रहा हुआ है। एक का आधार लोक दृष्टि या समाज दृष्टि है। दूसरी का आधार परमार्थ दृष्टि या शुद्ध दृष्टि है। एक व्यावहारिक सत्य है और दूसरा पारमार्थिक सत्य। नैतिकता व्यवहार से परमार्थ की ओर प्रयाण है अतः उसमें दोनों का ही मूल्य है। कर्म के शुभाशुभत्व के निर्णय की दृष्टि से कर्म के हेतु और परिणाम के प्रश्न पर गहराई से विवेचन जैन विचारणा में किया गया है।

चाहे हम कर्ता के अभिप्राय को शुभाशुभता के निर्णय का आधार मानें, या कर्म के समाज पर होने वाले परिणाम को। दोनों ही स्थितियों में किस प्रकार का कर्म पुण्य कर्म या उचित कर्म कहा जावेगा और किस प्रकार का कर्म पाप कर्म या अनुचित कर्म कहा जावेगा यह विचार आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में पुण्य-पाप की विचारणा के सन्दर्भ में सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। जहाँ कर्म-अकर्म का विचार व्यक्ति सापेक्ष है, वहाँ पुण्य-पाप का विचार समाज सापेक्ष है। जब हम कर्म, अकर्म या कर्म के बन्धनत्व का विचार करते हैं तो वैयक्तिक कर्म प्रेरक या वैयक्तिक चेतना की विशुद्धता (वीतरागता) ही हमारे निर्णय का आधार बनती है लेकिन जब हम पुण्य-पाप का विचार करते हैं तो समाज कल्याण या लोकहित ही हमारे निर्णय का आधार होता है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में जीवनादर्श तो शुभाशुभत्व की सीमा से ऊपर उठना है उस सन्दर्भ में वीतराग या अनासक्त जीवन दृष्टि का निर्माण ही व्यक्ति का परम साध्य माना गया है और वही कर्म के बन्धकत्व या अबन्धकत्व का प्रमापक है। लेकिन जहाँ तक शुभ-अशुभ का सम्बन्ध है उसमें 'राग' या आसक्ति का तत्त्व तो रहा हुआ है। शुभ और अशुभ दोनों ही राग या आसक्ति तो होती ही है अन्यथा राग के अभाव में कर्म शुभाशुभ से ऊपर उठकर अतिनैतिक होगा। यहाँ प्रमुखता राग की उपस्थिति या अनुपस्थिति की नहीं वरन् उसकी प्रशस्तता या अप्रशस्तता की है। प्रशस्त राग शुभ या पुण्य बन्ध का कारण माना गया है और अप्रशस्त राग अशुभ या पाप बन्ध का कारण है। राग की प्रशस्तता उसमें द्वेष के तत्त्व की कमी के आधार पर निर्भर होती है। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं तथापि जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी अल्प और कम तीव्र होगी वह राग उतना प्रशस्त होगा और जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा और तीव्रता जितनी अधिक होगी वह उतना ही अप्रशस्त होगा।

द्वेष विहीन विशुद्ध राग या प्रशस्त राग ही प्रेम कहा जाता है। उस प्रेम

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

से परार्थ या परोपकार वृत्ति का उदय होता है जो शुभ का सृजन करती है। उसी से लोक मंगलकारी प्रवृत्तियों के रूप में पुण्य कर्म निसृत होते हैं। जबकि द्वेष युक्त अप्रशस्त राग ही घृणा को जन्म देकर स्वार्थ वृत्ति का विकास करता है उससे अशुभ, अमंगलकारी पाप कर्म निसृत होते हैं। संक्षेप में जिस कर्म के पीछे प्रेम और परार्थ होते हैं वह पुण्य कर्म और जिस कर्म के पीछे घृणा और स्वार्थ होते हैं वह पाप कर्म।

जैन आचार दर्शन पुण्य कर्मों के वर्गीकरण में जिन तथ्यों पर अधिक बल देता है वे सभी समाज सापेक्ष हैं। वस्तुतः शुभ-अशुभ के वर्गीकरण में सामाजिक दृष्टि ही प्रधान है। भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में पुण्य और पाप की समग्र चिन्तना का सार निम्न कथन में समाया हुआ है कि "परोपकार पुण्य है और पर-पीड़न पाप है।" जैन विचारकों ने पुण्य बन्ध के दान, सेवा आदि जिन कारणों का उल्लेख किया है उनका प्रमुख सम्बन्ध सामाजिक कल्याण या लोक मंगल से है। इसी प्रकार पाप के रूप में जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है वे सभी लोक अमंगलकारी तत्त्व हैं।[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं जहाँ तक शुभ-अशुभ या पुण्य-पाप के वर्गीकरण का प्रश्न है हमें सामाजिक सन्दर्भ में ही उसे देखना होगा। यद्यपि बन्धन की दृष्टि से उस पर विचार करते समय कर्ता के आशय को भुलाया नहीं जा सकता है।

सामाजिक जीवन में आचरण के शुभत्व का आधार :

यद्यपि यह सत्य है कि कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का निर्णय अन्य प्राणियों या समाज के प्रति किए गए व्यवहार अथवा दृष्टिकोण के सन्दर्भ में होता है। लेकिन अन्य प्राणियों के प्रति हमारा कौन सा व्यवहार या दृष्टिकोण शुभ होगा और कौनसा व्यवहार या दृष्टिकोण अशुभ होगा इसका निर्णय किस आधार पर किया जाए? भारतीय चिन्तन ने इस सन्दर्भ में जो कसौटी प्रदान की है, वह यही है कि जिस प्रकार का व्यवहार हम अपने लिए प्रतिकूल समझते हैं वैसा आचरण दूसरे के प्रति नहीं करना और जैसा व्यवहार हमें अनुकूल है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना यही शुभाचरण है और इसके विपरीत जो व्यवहार हमें प्रतिकूल है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना और जैसा व्यवहार हमें अनुकूल है वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करना अशुभाचरण है। भारतीय ऋषियों मात्र का यही सन्देश है कि "आत्मनः प्रतिकूलानि पेरषां मा समाचरेत" जिस आचरण को तुम अपने लिए प्रतिकूल समझते हो वैसा आचरण दूसरों के प्रति मत करो। संक्षेप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि ही व्यवहार के शुभत्व का प्रमाण है।

१—देखिये १८ पाप स्थान, प्रतिक्रमण सूत्र।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन दृष्टिकोण :

जैन दर्शन के अनुसार जिसकी संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि है वही नैतिक कर्मों का स्रष्टा है।[१] दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है वह पाप कर्म का बन्ध नहीं करता है।[२] सूत्रकृतांग में धर्माकर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझना यही दृष्टिकोण स्वीकार किया गया है।[३] सभी को जीवित रहने की इच्छा है, कोई भी मरना नहीं चाहता, सभी को प्राण प्रिय है, सुख शान्तिप्रद है और दुःख प्रतिकूल है। इसलिए वही आचरण श्रेष्ठ है जिसके द्वारा किसी भी प्राण का हनन नहीं हो।[४]

बौद्ध दर्शन का दृष्टिकोण :

बौद्ध विचारणा में भी सर्वत्र आत्मवत् दृष्टि को ही कर्म के शुभत्व का आधार माना गया है। सुतनिपात में बुद्ध कहते हैं—जैसा मैं हूँ वैसे ही ये दूसरे प्राणी भी हैं और जैसे ये दूसरे प्राणी हैं वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार सभी को अपने समान समझकर, किसी की हिंसा या घात नहीं करना चाहिए।[५] धम्मपद में भी बुद्ध ने यही कहा है कि—सभी प्राणी दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं, सबको जीवन प्रिय है अतः सबको अपने समान समझकर न मारे और न मारने की प्रेरणा करें। सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से जो दुःख देता है वह मरकर सुख नहीं पाता। लेकिन जो सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से दुःख नहीं देता वह मर कर सुख को प्राप्त होता है।[६]

गीता एवं महाभारत का दृष्टिकोण :

मनुस्मृति, महाभारत और गीता में भी हमें इसी दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है। गीता में कहा गया है कि जो सुख और दुःख सभी में दूसरे प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखकर व्यवहार करता है वही परमयोगी है।[७] महाभारत में अनेक स्थानों पर इस दृष्टिकोण का समर्थन हमें मिलता है।

१—अनुयोगद्वार सूत्र १२९।
२—दशवै० ४/९।
३—सूत्रकृतांग २/२/४ पृष्ठ १०४।
४—दशवै० ६/११।
५—सुत्तनिपात ३७/२७।
६—धम्मपद १२९-१३१-१३३।
७—गीता ६/३२।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उसमें कहा गया है कि जो जैसा अपने लिए चाहता है वैसा ही व्यवहार दूसरे के प्रति भी करे।[१] त्याग-दान-सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय सभी में दूसरे को अपनी आत्मा के समान मान कर व्यवहार करना चाहिए।[२] जो व्यक्ति दूसरे प्राणियों के प्रति अपने समान व्यवहार करता है वही स्वर्ग के सुखों को प्राप्त करता है।[३] जो व्यवहार स्वयं को प्रिय लगता है वैसा ही व्यवहार दूसरों के प्रति किया जाए। हे युधिष्ठर धर्म और अधर्म की पहिचान का यही लक्षण है।[४]

पाश्चात्य दृष्टिकोण :

पाश्चात्य दर्शन में भी सामाजिक जीवन में दूसरों के प्रति व्यवहार करने का यही दृष्टिकोण स्वीकृत है कि जैसा व्यवहार तुम अपने लिए चाहते हो वैसा ही दूसरे के लिए करो। कान्ट ने भी कहा है कि केवल उसी नियम के अनुसार काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जाने की इच्छा कर सकते हो। मानवता चाहे वह तुम्हारे अन्दर हो या किसी अन्य के सदैव से साध्य बनी रहे, साधन कभी न हो।[५] कान्ट का इस कथन का आशय भी यही निकलता है कि नैतिक जीवन के संदर्भ में सभी को समान मानकर व्यवहार करना चाहिए।

शुभ और अशुभ से शुद्ध की ओर :

जैन विचारणा में शुभ एवं अशुभ अथवा मंगल-अमंगल की वास्तविकता स्वीकार की गई है। उत्तराध्ययन सूत्र में नव तत्त्व माने गये हैं जिसमें पुण्य और पाप को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में गिना गया।[६] जबकि तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन सातों को ही तत्त्व कहा है। वहाँ पर पुण्य और पाप का स्वतंत्र तत्त्व के रूप में स्थान नहीं है।[७] लेकिन यह विवाद अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता क्योंकि जो परम्परा उन्हें स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानती है वह भी उनको आस्रव व बन्ध तत्त्व के अन्तर्गत तो मान लेती है। यद्यपि पुण्य और पाप मात्र आस्रव नहीं हैं वरन् उनका बन्ध भी होता है और विपाक भी होता है। अतः आस्रव के दो विभाग शुभास्रय और अशुभास्रय करने से काम पूर्ण नहीं होता वरन् बन्ध और विपाक में भी दो-दो भेद करने होंगे। इस वर्गीकरण की कठिनाई से बचने के लिए ही पाप एवं पुण्य को दो स्वतंत्र तत्त्व के रूप में मान लिया है।

१—म० भा० शा० २५८/२१।
२-३—म० भा० अनु० ११३/६-१०।
४—म० भा० सुभाषित संग्रह से उद्धृत।
५—नीति सर्व, पृष्ठ २६८ से उद्धृत।
६—उत्तरा० २८/१४।
७—तत्त्वार्थ० १/४।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

फिर भी जैन विचारणा निर्वाण मार्ग के साधन के लिए दोनों को हेय और त्याज्य मानती है क्योंकि दोनों ही बन्धन का कारण हैं। वस्तुतः नैतिक जीवन की पूर्णता शुभाशुभ या पुण्य-पाप से ऊपर उठ जाने में है। शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) का भेद जब तक बना रहता है नैतिक पूर्णता नहीं आती है। अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध दशा में स्थित हो जाता है।

जैन दृष्टिकोण :

ऋषिभांसित सूत्र में ऋषि कहता है पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार-संतति के मूल हैं।[1] आचार्य कुन्दकुन्द पुण्य-पाप दोनों को बन्धन का कारण मानते हुए भी दोनों के बन्धकत्व का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। समयसार ग्रन्थ में वे कहते हैं अशुभ कर्म पाप (कुशील) और शुभ कर्म पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं। फिर भी पुण्य कर्म भी संसार (बन्धन) का कारण होता है। जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लोह बेड़ी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है। उसी प्रकार जीव कृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन का कारण होते हैं।[2] आचार्य दोनों को ही आत्मा की स्वाधीनता में बाधक मानते हैं। उनकी दृष्टि में पुण्य स्वर्ण बेड़ी है और पाप लोह बेड़ी। फिर भी आचार्य पुण्य को स्वर्ण बेड़ी कहकर उसकी पाप से किंचित श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टिकोण से पुण्य और पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों ही बन्धन हैं।[3] इसी प्रकार पं० जयचन्द्रजी ने भी कहा है—

"पुण्य पाप दोऊ करम, बंधरूप दुइ मानि।
शुद्ध आत्मा जिन लह्यो, वंदू चरन हित जानि ॥[4]

अनेक जैनाचार्यों ने पुण्य को निर्वाण के लक्ष्य, दृष्टि से हेय मानते हुए भी उसे निर्वाण का सहायक तत्त्व स्वीकार किया है। यद्यपि निर्वाण की स्थिति को प्राप्त करने के लिए अन्ततोगत्वा पुण्य को छोड़ना होता है फिर भी वह निर्वाण में ठीक उसी प्रकार सहायक है जैसे साबुन, वस्त्र के मैल को साफ करने में सहायक है। शुद्ध वस्त्र के लिए साबुन का लगा होना जिस प्रकार अनावश्यक है उसे भी अलग करना होता है, वैसे ही निर्वाण या शुद्धात्म दशा में पुण्य का होना भी अनावश्यक है। उसे भी क्षय करना होता है। लेकिन जिस प्रकार साबुन मैल को साफ करता है और मैल की सफाई होने पर स्वयं अलग हो जाता है—

१—इसि० ९/२।
२—समयसार १४५-१४६।
३—प्रवचनसार टीका १/७२।
४—समयसार टीका पृष्ठ २०७।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वैसे ही पुण्य भी पाप रूप मल को अलग करने में सहायक होता है और उसके अलग हो जाने पर स्वयं भी अलग हो जाता है। जिस प्रकार एरण्ड बीज या अन्य रेचक औषधि मल के रहने तक रहती है और मल निकल जाने पर वह भी निकल जाती है वैसे ही पाप की समाप्ति पर पुण्य भी अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं। वे किसी भी नव कर्म संतति को जन्म नहीं देते हैं। अतः वस्तुतः व्यक्ति को अशुभ कर्म से बचना है। जब वह अशुभ (पाप) कर्म से ऊपर उठ जाता है उसका शुभ कर्म भी शुद्ध कर्म बन जाता है। द्वेष पर पूर्ण विजय पा जाने पर राग भी नहीं रहता है अतः राग-द्वेष के अभाव में उससे जो कर्म निसृत होते हैं वे शुद्ध (इर्यापथिक) होते हैं।

पुण्य (शुभ) कर्म के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि पुण्योपार्जन की उपरोक्त क्रियाएँ जब अनासक्तभाव से की जाती हैं तो वे शुभ बन्ध का कारण न होकर कर्मक्षय (संवर और निर्जरा) का कारण बन जाती हैं। इसी प्रकार संवर और निर्जरा के कारण संयम और तप जब आसक्तभाव फलाकांक्षा (निदान अर्थात् उनके प्रतिफल के रूप में किसी निश्चित फल की कामना करना) से युक्त होते हैं तो वे कर्म क्षय अथवा निर्वाण का कारण न होकर बन्धन का ही कारण बनते हैं। चाहे वह सुखद फल के रूप में क्यों नहीं हों। जैनाचार दर्शन में अनासक्त भाव या राग-द्वेष से रहित होकर किया गया शुद्ध कार्य ही मोक्ष या निर्वाण का कारण माना गया है और आसक्ति से किया गया शुभ कार्य भी बन्धन का ही कारण समझा गया। यहाँ पर गीता की अनासक्त कर्म योग की विचारणा जैन दर्शन के अत्यन्त समीप आ जाती है। जैन दर्शन का अन्तिम लक्ष्य आत्मा को अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर और शुभ से शुद्ध कर्म (वीतराग दशा) की प्राप्ति है। आत्मा का शुद्धोपयोग ही जैन नैतिकता का अन्तिम साध्य है।

बौद्ध दृष्टिकोण :

बौद्ध दर्शन भी जैन दर्शन के समान नैतिक साधना की अन्तिम अवस्था में पुण्य और पाप दोनों से ऊपर उठने की बात कहता है और इस प्रकार समान विचारों का प्रतिपादन करता है। भगवान् बुद्ध सुत्तनिपात में कहते हैं जो पुण्य और पाप को दूर कर शांत (सम) हो गया है, इस लोक और परलोक के यथार्थ स्वरूप को जान कर (कर्म) रज रहित हो गया है, जो जन्म-मरण से परे हो गया है, वह श्रमण स्थिर, स्थितात्मा कहलाता है।[1] सभिय परिव्राजक द्वारा बुद्ध वंदना में पुनः इसी बात को दोहराया गया है। वह बुद्ध के प्रति कहता है 'जिस प्रकार सुन्दर पुण्डरीक कमल पानी में लिप्त नहीं होता उसी प्रकार शुद्ध पुण्य और पाप दोनों में लिप्त नहीं होते।[2] इस प्रकार हम

१—सुत्तनिपात ३२/११। २—सुत्तनिपात ३२/३८।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

देखते हैं कि बौद्ध विचारणा का भी अन्तिम लक्ष्य शुभ और अशुभ से ऊपर उठना है।

गीता का दृष्टिकोण :

स्वयं गीताकार ने भी यह संकेत किया है कि मुक्ति के लिए शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्म फलों से मुक्त होना आवश्यक है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं हे अर्जुन ! तू जो भी कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, अथवा तप करता है, वह सभी शुभाशुभ कर्म मुझे अर्पित कर दे अर्थात् उनके प्रति किसी प्रकार की आसक्ति या कर्तृत्व भाव मत रख। इस प्रकार संन्यास-योग से युक्त होने पर तू शुभाशुभ फल देने वाले कर्म बन्धन से छूट जावेगा और मुझे प्राप्त होवेगा।[१] गीताकार स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करता है कि शुभ कर्म और अशुभ कर्म दोनों ही बन्धन हैं और मुक्ति के लिए उनसे ऊपर उठना आवश्यक है। बुद्धिमान व्यक्ति शुभ और अशुभ या पुण्य और पाप दोनों को ही त्याग देता है।[२] सच्चे भक्त का लक्षण बताते हुए पुनः कहा गया है कि जो शुभ और अशुभ दोनों का परित्याग कर चुका है अर्थात् जो दोनों से ऊपर उठ चुका है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है।[३] डॉ० राधाकृष्णन् ने गीता के परिचयात्मक निबन्ध में भी इसी धारणा को प्रस्तुत किया। वे आचार्य कुन्दकुन्द के साथ सम स्वर ही कहते हैं—चाहे हम अच्छी इच्छाओं के बन्धन में बन्धे हों या बुरी इच्छाओं के, बन्धन तो दोनों ही हैं। इससे क्या अन्तर पड़ता है कि जिन जंजीरों में हम बन्धे हैं वे सोने की हैं या लोहे की।[४] जैन दर्शन के समान गीता भी हमें यही बताती है कि प्रथमतः जब पुण्य कर्मों के सम्पादन द्वारा पाप कर्मों का क्षय कर दिया जाता है तदनन्तर वह पुरुष राग-द्वेष के द्वन्द्व से मुक्त होकर दृढ़ निश्चय पूर्वक मेरी भक्ति करता है।[५] इस प्रकार गीता भी नैतिक जीवन के लिए अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर और शुभ कर्म से शुद्ध या निष्काम कर्म की ओर बढ़ने का संकेत देती है। गीता का अन्तिम लक्ष्य भी शुभाशुभ से ऊपर निष्काम जीवन-दृष्टि का निर्माण है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण :

पाश्चात्य आचार दर्शन में अनेक विचारकों ने नैतिक जीवन की पूर्णता के लिए शुभाशुभ से परे जाना आवश्यक माना है। ब्रेडले का कहना है कि

१—गीता ९/२८।
२—गीता २/५०।
३—गीता १२/१६।
४—भगवत् गीता (रा०) पृष्ठ ५६।
५—गीता ७/२८।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नैतिकता हमें उससे परे ले जाती है ।[1] नैतिक जीवन के क्षेत्र में शुभ और अशुभ का विरोध बना रहता है लेकिन आत्म पूर्णता की अवस्था में यह विरोध नहीं रहना चाहिए । अत: पूर्ण आत्म-साक्षात्कार के लिए हमें नैतिकता के क्षेत्र (शुभाशुभ के क्षेत्र) से ऊपर उठना होगा । ब्रेडले ने नैतिकता के क्षेत्र से ऊपर धर्म (आध्यात्म) का क्षेत्र माना है । उसके अनुसार नैतिकता का अन्त धर्म में होता है । जहाँ व्यक्ति शुभाशुभ के द्वन्द्व से ऊपर उठकर ईश्वर से तादात्म्य स्थापित कर लेता है । वे लिखते हैं कि अन्त में हम ऐसे स्थान पर पहुँच जाते हैं, जहाँ पर क्रिया एवं प्रक्रिया का अन्त होता है, यद्यपि सर्वोत्तम क्रिया सर्वप्रथम यहाँ से ही आरम्भ होती है । यहाँ पर हमारी नैतिकता ईश्वर से तादात्म्य में चरम अवस्था में फलित होती है और सर्वत्र हम उस अमर प्रेम को देखते हैं, जो सदैव विरोधाभास पर विकसित होता है, किन्तु जिसमें विरोधाभास का सदा के लिए अन्त हो जाता है ।[2]

ब्रेडले ने जो भेद नैतिकता और धर्म में किया वैसा ही भेद भारतीय दर्शनों ने व्यावहारिक नैतिकता और पारमार्थिक नैतिकता में किया है । व्यावहारिक नैतिकता का क्षेत्र शुभाशुभ का क्षेत्र है । यहाँ आचरण की दृष्टि समाज सापेक्ष होती है और लोक मंगल ही उसका साध्य होता है । पारमार्थिक नैतिकता का क्षेत्र शुद्ध चेतना (अनासक्त या वीतराग जीवन दृष्टि) का है, यह व्यक्ति सापेक्ष है । व्यक्ति को बन्धन से बचाकर मुक्ति की ओर ले जाना ही इसका अन्तिम साध्य है ।

शुद्ध कर्म (अकर्म) :

शुद्ध कर्म का तात्पर्य उस जीवन व्यवहार से है जिसमें क्रियाएँ राग-द्वेष से रहित होती है तथा जो आत्मा को बन्धन में नहीं डालता है । अबन्धक कर्म ही शुद्ध कर्म है । जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन इस प्रश्न पर गहराई से विचार करते हैं कि आचरण (क्रिया) एवं बन्धन के मध्य क्या सम्बन्ध है ? क्या कर्मणा बध्यते जन्तु: की उक्ति सर्वांश सत्य है ? जैन, बौद्ध एवं गीता की विचारणा में यह उक्ति कि कर्म से प्राणी बन्धन में आता है सर्वांश या निरपेक्ष सत्य नहीं है । प्रथमत: कर्म या क्रिया के सभी रूप बन्धन की दृष्टि से समान नहीं हैं फिर यह भी सम्भव है कि आचरण एवं क्रिया के होते हुए भी कोई बन्धन नहीं हो । लेकिन यह निर्णय कर पाना कि बन्धक कर्म क्या है और अबन्धक कर्म क्या है, अत्यन्त ही कठिन है । गीता कहती है कर्म (बन्धक कर्म) क्या है ? और अकर्म (अबन्धक कर्म) क्या है ? इसके सम्बन्ध में विद्वान् भी

१—इथिकल स्टडीज, पृष्ठ ३१४ ।

२—इथिकल स्टडीज, पृष्ठ ३४२ ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मोहित हो जाते हैं।[1] कर्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त गहन् विषय है। यह कर्म समीक्षा का विषय अत्यन्त गहन और दुष्कर क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर हमें जैनागम सूत्रकृतांग में भी मिलता है। उसमें बताया गया है कि कर्म, क्रिया या आचरण समान होने पर भी बन्धन की दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न प्रकृति के हो सकते हैं। मात्र आचरण, कर्म या पुरुषार्थ को देखकर यह निर्णय देना सम्भव नहीं होता है, कि वह नैतिक दृष्टि से किस प्रकार का है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही समान वीरता को दिखाते हुए (अर्थात् समान रूप से कर्म करते हुए) भी अधूरे ज्ञानी और सर्वथा अज्ञानी का, चाहे जितना पराक्रम (पुरुषार्थ) हो, पर वह अशुद्ध है और कर्म बन्धन का कारण है, परन्तु ज्ञान एवं बोध सहित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध है और उसे उसका कुछ फल नहीं भोगना पड़ता। योग्य रीति से किया हुआ तप भी यदि कीर्ति की इच्छा से किया गया हो तो शुद्ध नहीं होता।[2] कर्म का बन्धन की दृष्टि से विचार उसके बाह्य स्वरूप के आधार पर ही नहीं किया जा सकता है, उसमें कर्ता का प्रयोजन, कर्ता का विवेक एवं देशकालगत परिस्थितियाँ भी महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं और कर्मों का ऐसा सर्वांगपूर्ण विचार करने में विद्वत् वर्ग भी कठिनाई में पड़ जाता है। कर्म में कर्ता के प्रयोजन को जो कि एक आन्तरिक तथ्य है, जान पाना सहज नहीं होता है।

लेकिन फिर भी कर्ता के लिए जो कि अपनी मनोदशा का ज्ञाता भी है यह आवश्यक है कि कर्म और अकर्म का यथार्थ स्वरूप समझे क्योंकि उसके अभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है। गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मैं तुझे कर्म के उस रहस्य को बताऊँगा जिसे जानकर तू मुक्त हो जावेगा।[3] वास्तविकता यह है कि नैतिक विकास के लिए बन्धक और अबन्धक कर्म के यथार्थ स्वरूप को जानना आवश्यक है। बन्धकत्व की दृष्टि से कर्म के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में समालोच्य आचार दर्शनों का दृष्टिकोण निम्नानुसार है।

जैन दर्शन में कर्म-अकर्म विचार :

कर्म के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उस पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—(१) उसकी बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर और (२) उसकी शुभाशुभता के आधार पर। कर्म का बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर विचार करने पर हम पाते हैं कि कुछ कर्म बन्धन में डालते हैं जबकि कुछ कर्म बन्धन में नहीं डालते हैं। बन्धक कर्मों को कर्म और अबन्धक कर्मों को अकर्म कहा जाता है। जैन विचारणा में कर्म और अकर्म के यथार्थ स्वरूप की

१—गीता ४/१६।
२—सूत्रकृतांग १/८/२२-२४।
३—गीता ४/१६।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचना सर्वप्रथम आचारांग एवं सूत्रकृतांग में मिलती है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कुछ कर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं, कुछ अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं।[1] इसका तात्पर्य यह है कि कुछ विचारकों की दृष्टि में सक्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है जबकि दूसरे विचारकों की दृष्टि में निष्क्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है। इस सम्बन्ध में महावीर अपने दृष्टि-कोण को प्रस्तुत करते हुए, यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा का अभाव ऐसा नहीं मानना चाहिए। वे अत्यन्त सीमित शब्दों में कहते हैं। प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है।[2] प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहकर महावीर यह स्पष्ट कर देते हैं कि अकर्म निष्क्रियता की अवस्था नहीं, वह तो सतत जागरुकता है। अप्रमत्त अवस्था या आत्म जागृति की दशा में सक्रियता अकर्म होती है जबकि प्रमत्त दशा या आत्म-जागृति के अभाव में निष्क्रियता भी कर्म (बन्धन) बन जाती है। वस्तुतः किसी क्रिया का बन्धकत्व मात्र क्रिया के घटित होने में नहीं वरन् उसके पीछे रहे हुए कषाय भावों एवं राग-द्वेष की स्थिति पर निर्भर है।

जैन दर्शन के अनुसार राग-द्वेष एवं कषाय जो कि आत्मा की प्रमत्त दशा है किसी क्रिया को कर्म बना देते हैं। लेकिन कषाय एवं आसक्ति से रहित किया हुआ कर्म-अकर्म बन जाता है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो आस्रव या बन्धन कारक क्रियाएँ हैं वे ही अनासक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर मुक्ति के साधन बन जाती हैं।[3] इस प्रकार जैन विचारणा में कर्म और अकर्म अपने बाह्य स्वरूप की अपेक्षा कर्ता के विवेक और मनोवृत्ति पर निर्भर होते हैं। जैन विचारणा में बन्धकत्व की दृष्टि से क्रियाओं को दो भागों में बांटा गया है। (१) इर्यापथिक क्रियाएँ (अकर्म) और (२) साम्परायिक क्रियाएँ (कर्म या विकर्म) इर्यापथिक क्रियाएँ निष्काम वीतराग दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति की क्रियाएँ हैं जो बन्धन कारक नहीं है जबकि साम्परायिक क्रियाएँ आसक्त व्यक्ति की क्रियाएँ हैं जो बन्धन कारक हैं। संक्षेप में वे समस्त क्रियाएँ जो आस्रव एवं बन्ध का कारण हैं, कर्म हैं और वे समस्त क्रियाएँ जो संवर एवं निर्जरा का हेतु हैं अकर्म हैं। जैन दृष्टि में अकर्म या इर्यापथिक कर्म का अर्थ है राग-द्वेष एवं मोह रहित होकर मात्र कर्तृत्व अथवा शरीर, निर्वाह के लिए किया जाने वाला कर्म। जबकि कर्म का अर्थ है राग-द्वेष एवं मोह सहित क्रियाएँ। जैन दर्शन के अनुसार जो क्रिया व्यापार राग-द्वेष और मोह से युक्त होता है बन्धन में डालता है और इसलिए वह कर्म है और जो क्रिया-व्यापार राग-द्वेष और मोह से रहित होकर कर्तव्य निर्वाह या शरीर निर्वाह के लिए किया जाता है वह बन्धन का कारण

१—सूत्रकृतांग १/८/१-२।
२—सूत्रकृतांग १/८/३।
३—आचारांग १/४/२/१।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है अतः अकर्म है। जिन्हें जैन दर्शन में ईर्यापथिक क्रियाएँ या अकर्म कहा गया है उन्हें बौद्ध परम्परा अनुपचित, अव्यक्त या अकृष्ण, अशुक्ल कर्म कहती है और जिन्हें जैन परम्परा साम्परायिक क्रियाएँ या कर्म कहती हैं उन्हें बौद्ध परम्परा उपचित कर्म या कृष्ण-शुक्ल कर्म कहती है। आएँ, जरा इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करें।

बौद्ध दर्शन में कर्म-अकर्म का विचार :

बौद्ध विचारणा में भी कर्म और उनके फल देने की योग्यता के प्रश्न को लेकर महाकर्म विभंग में विचार किया गया है, जिसका उल्लेख श्रीमती सूमादास गुप्ता ने अपने प्रबन्ध "भारत में नैतिक दर्शन का विकास" में किया है।[1] बौद्ध दर्शन का प्रमुख प्रश्न यह है कि कौन से कर्म उपचित होते हैं। कर्म के उपचित से तात्पर्य संचित होकर फल देने की क्षमता के योग्य होने से है। दूसरे शब्दों में कर्म के बन्धन कारक होने से है। बौद्ध परम्परा का उपचित कर्म जैन परम्परा के विषयोदयी कर्म से और बौद्ध परम्परा का अनुपचित कर्म जैन परम्परा के प्रदेशोदयी कर्म (ईर्यापथिक कर्म) से तुलनीय है। महाकर्म विभंग में कर्म की कृत्यता और उपचितता के सम्बन्ध को लेकर कर्म का एक चतुर्विद वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

१. **वे कर्म जो कृत (सम्पादित) नहीं हैं लेकिन उपचित (फल प्रदाता) हैं**—वासनाओं के तीव्र आवेग से प्रेरित होकर किये गये ऐसे कर्म संकल्प जो कार्य रूप में परिणित न हो पाये हैं, इस वर्ग में आते हैं। जैसे किसी व्यक्ति ने क्रोध या द्वेष के वशीभूत होकर किसी को मारने का संकल्प किया हो लेकिन वह उसे मारने की क्रिया को सम्पादित न कर सका हो।

२. **वे कर्म जो कृत हैं लेकिन उपचित भी हैं**—वे समस्त ऐच्छिक कर्म जिनको संकल्प पूर्वक सम्पादित किया गया है, इस कोटि में आते हैं। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अकृत उपचित कर्म और कृत उपचित कर्म दोनों शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

३. **वे कर्म जो कृत हैं लेकिन उपचित नहीं हैं**—अभिधम्मकोष के अनुसार निम्न कर्म कृत होने पर उपचित नहीं होते हैं अर्थात् अपना फल नहीं देते हैं :—

(अ) वे कर्म जिन्हें संकल्प पूर्वक नहीं किया गया है अर्थात् जो सचिन्त्य नहीं हैं, उपचित नहीं होते हैं।

१—डेवलपमेन्ट आफ मारल फिलासफी इन इंडिया, पृष्ठ १६८-१७४।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(ब) वे कर्म जो सचिन्त्य होते हुए भी सहसाकृत हैं, उपचित नहीं होते हैं। इन्हें हम आकस्मिक कर्म कह सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में इन्हें विचार प्रेरित कर्म (आइडिया मोटर एक्टीविटी) कहा जा सकता है।

(स) भ्रान्ति वश किया गया कर्म भी उपचित नहीं होता।

(द) कृत कर्म के करने के पश्चात् यदि अनुताप या ग्लानि हो तो उसका प्रकटन करके पाप विरति का व्रत लेने से कृत कर्म उपचित नहीं होता।

(ई) शुभ का अभ्यास करने से तथा आश्रय बल से (बुद्ध के शरणागत हो जाने से) भी पाप कर्म उपचित नहीं होता।

४. **वे कर्म जो कृत भी नहीं हैं और उपचित भी नहीं हैं**—स्वप्नावस्था में किए गए कर्म इसी प्रकार के होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं प्रथम दो वर्गों के कर्म प्राणी को बन्धन में डालते हैं लेकिन अन्तिम दो प्रकार के कर्म प्राणी को बन्धन में नहीं डालते हैं।

बौद्ध आचार दर्शन में भी राग-द्वेष और मोह से युक्त होने पर कर्म को बन्धन कारक माना जाता है जबकि राग-द्वेष और मोह से रहित कर्म को बन्धन कारक नहीं माना जाता है। बौद्ध दर्शन भी राग-द्वेष और मोह रहित अर्हत के क्रिया व्यापार को बन्धन कारक नहीं मानता है। ऐसे कर्मों को अकृष्ण-अशुक्ल या अव्यक्त कर्म भी कहा गया है।

गीता में कर्म-अकर्म का स्वरूप :

गीता भी इस सम्बन्ध में गहराई से विचार करती है कि कौन सा कर्म बन्धन कारक और कौन सा कर्म बन्धन कारक नहीं है ? गीताकार कर्म को तीन भागों में वर्गीकृत कर देता है। (१) कर्म, (२) विकर्म, (३) अकर्म। गीता के अनुसार कर्म और विकर्म बन्धन कारक हैं जबकि अकर्म बन्धन कारक नहीं हैं।

(१) कर्म—फल की इच्छा से जो शुभ कर्म किये जाते हैं, उसका नाम कर्म है।

(२) विकर्म—समस्त अशुभ कर्म जो वासनाओं की पूर्ति के लिए किए जाते हैं, विकर्म हैं। साथ ही फल की इच्छा एवं अशुभ भावना से जो दान, तप, सेवा आदि शुभ कर्म किये जाते हैं वे भी विकर्म कहलाते हैं। गीता में कहा गया

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से मन, वाणी, शरीर की पीड़ा सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने की नीयत से किया जाता है वह तापस कहलाता है।[१] साधारणतया मन, वाणी एवं शरीर से होने वाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि निषिद्ध कर्म मात्र ही विकर्म समझे जाते हैं, परन्तु वे बाह्य रूप से विकर्म प्रतीत होने वाले कर्म भी कभी कर्ता की भावनानुसार कर्म या अकर्म के रूप में बदल जाते हैं। आसक्ति और अहंकार से रहित होकर शुद्ध भाव एवं मात्र कर्तव्य बुद्धि से किये जाने वाले हिंसादि कर्म (जो देखने में विकर्म से प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होने से अकर्म ही हैं।[२]

(३) अकर्म—फलासक्ति रहित हो अपना कर्तव्य समझ कर जो भी कर्म किया जाता है उस कर्म का नाम अकर्म है। गीता के अनुसार परमात्मा में अभिन्न भाव से स्थित होकर कर्तापन के अभिमान से रहित पुरुष द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह मुक्ति के अतिरिक्त अन्य फल नहीं देने वाला होने से अकर्म ही है।[३]

अकर्म की अर्थ विवक्षा पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार :

जैसा कि हमने देखा जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन, क्रिया व्यापार को बन्धकत्व की दृष्टि से दो भागों में बांट देते हैं। (१) बन्धक कर्म और (२) अबन्धक कर्म। अबन्धक क्रिया व्यापार को जैन दर्शन में अकर्म या ईर्या-पथिक कर्म। बौद्ध दर्शन में अकृष्ण-अशुक्ल कर्म या अव्यक्त कर्म तथा गीता में अकर्म कहा गया है। प्रथमतः सभी समालोच्य आचार दर्शनों की दृष्टि में अकर्म कर्म-अभाव नहीं है। जैन विचारणा के शब्दों में कर्म प्रकृति के उदय को समझ कर बिना राग-द्वेष के जो कर्म होता है, वह अकर्म ही है। मन, वाणी, शरीर की क्रिया के अभाव का नाम ही अकर्म नहीं। गीता के अनुसार व्यक्ति की मनोदशा के आधार से क्रिया न करने वाले व्यक्तियों का क्रिया त्याग रूप अकर्म भी कर्म बन सकता है। और क्रियाशील व्यक्तियों का कर्म भी अकर्म बन सकता है। गीता कहती है कर्मेन्द्रियों की सब क्रियाओं को त्याग, क्रिया रहित पुरुष जो अपने को सम्पूर्ण क्रियाओं का त्यागी समझता है, उसके द्वारा प्रकट रूप से कोई काम होता हुआ न दीखने पर भी त्याग का अभिमान या आग्रह रहने के कारण उससे वह त्याग रूप कर्म होता है। उसका वह त्याग का अभिमान या आग्रह अकर्म को भी कर्म बना देता है।[४] इसी प्रकार कर्तव्य प्राप्त

१—गीता १७/१९।
२—गीता १८/१७।
३—गीता ३/१०।
४—गीता ३/६।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होने पर भय या स्वार्थ वश कर्तव्य कर्म से मुंह मोड़ना, विहित कर्मों का त्याग कर देना आदि में भी कर्म नहीं होते, परन्तु इस अकर्म दशा में भी भय या राग भाव अकर्म को भी कर्म बना देता है।[1] जबकि अनासक्त वृत्ति और कर्तव्य की दृष्टि से जो कर्म किया जाता है। वह राग-द्वेष के अभाव के कारण अकर्म बन जाता है। उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि कर्म और अकर्म का निर्णय केवल शारीरिक क्रियाशीलता या निष्क्रियता से नहीं होता। कर्ता के भावों के अनुसार ही कर्मों का स्वरूप बनता है।

इस रहस्य को सम्यक् रूपेण जानने वाला ही गीताकार की दृष्टि में मनुष्यों में बुद्धिमान योगी है।[2] सभी विवेच्य आचार दर्शनों में कर्म-अकर्म विचार में वासना, इच्छा या कर्तृत्व भाव ही प्रमुख तत्त्व माना गया है। यदि कर्म के सम्पादन में वासना, इच्छा या कर्तृत्व बुद्धि का भाव नहीं है तो वह कर्म बन्धक कारक नहीं होता है। दूसरे शब्दों में बन्धन की दृष्टि से वह कर्म-अकर्म बन जाता है, वह क्रिया अक्रिया हो जाती है। वस्तुतः कर्म-अकर्म विचार में क्रिया प्रमुख तत्त्व नहीं होती है, प्रमुख तत्त्व है, कर्ता का चेतन पक्ष। यदि चेतना जाग्रत है, अप्रमत्त है, विशुद्ध है, वासना शून्य है, यथार्थ दृष्टि सम्पन्न है तो फिर क्रिया का बाह्य स्वरूप अधिक मूल्य नहीं रख सकता। पूज्यपाद कहते हैं "जो आत्म तत्त्व में स्थिर है वह बोलते हुए भी नहीं बोलता है, चलते हुए भी नहीं चलता है, देखते हुए भी नहीं देखता है।[3]" आचार्य अमृतचन्द्र सूरी का कथन है रागादि (भावों) से मुक्त युक्त आचरण करते हुए यदि हिंसा (प्राणघात) हो जावे तो वह हिंसा नहीं है।[4] अर्थात् हिंसा और अहिंसा, पाप और पुण्य बाह्य परिणामों पर निर्भर नहीं होते हैं वरन् उसमें कर्ता की चित्तवृत्ति ही प्रमुख है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है—भावों से विरक्त जीव शोक रहित हो जाता है, वह कमल पत्र की तरह संसार में रहते हुए भी लिप्त नहीं होता।[5]

गीताकार भी इसी विचार दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए कहता है जिसने कर्म फलासक्ति का त्याग कर दिया है, जो वासना शून्य होने के कारण सदैव ही आकांक्षा रहित है और आत्म तत्त्व में स्थिर होने के कारण आलम्बन रहित है, वह क्रियाओं को करते हुए भी कुछ नहीं करता है।[6] गीता का अकर्म जैन दर्शन के संवर और निर्जरा से भी तुलनीय है। जिस प्रकार जैन दर्शन में संवर एवं निर्जरा के हेतु किया जाने वाला समस्त क्रिया व्यापार मोक्ष का हेतु होने से अकर्म ही माना गया है। उसी प्रकार गीता में भी फलाकांक्षा से रहित होकर ईश्वरीय आदेश के पालनार्थ जो नियत कर्म किया जाता है वह अकर्म ही माना

१—गीता १८/७। २—गीता ४/१८। ३—इष्टोपदेश ४१।
४—पुरुषार्थ० ४५। ५—उत्तरा० ३२/९९। ६—गीता ४/२०।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

गया है। दोनों में जो विचार साम्य है वह एक तुलनात्मक अध्येता के लिए काफी महत्त्वपूर्ण है। गीता और जैनागम आचारांग में मिलने वाला निम्न विचार साम्य भी विशेष रूपेण द्रष्टव्य है। आचारांग सूत्र में कहा गया है 'अग्रकर्म और मूल कर्म के भेदों में विवेक रखकर ही कर्म कर।' ऐसे कर्मों का कर्ता होने पर भी वह साधक निष्कर्म ही कहा जाता है। निष्कर्मता के जीवन में उपाधियों का आधिक्य नहीं होता, लौकिक प्रदर्शन नहीं होता। उसका शरीर मात्र योग क्षेत्र का (शारीरिक क्रियाओं) वाहक होता है।[1] गीता कहती है आत्म विजेता, इन्द्रियजित सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखने वाला व्यक्ति कर्म का कर्ता होने पर निष्कर्म कहा जाता है। वह कर्म से लिप्त नहीं होता। जो फलासक्ति से मुक्त होकर कर्म करता है वह नैष्ठिक शान्ति प्राप्त करता है। लेकिन जो फलासक्ति से बन्धा हुआ है वह कुछ नहीं करता हुआ भी कर्म बन्धन से बन्ध जाता है।[2] गीता का उपरोक्त कथन सूत्रकृतांग के निम्न कथन से भी काफी निकटता रखता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है मिथ्या दृष्टि व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ फलासक्ति से युक्त होने के कारण अशुद्ध होता है और बन्धन का हेतु है। लेकिन सम्यक् दृष्टि वाले व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ शुद्ध है क्योंकि वह निर्वाण का हेतु है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही आचार दर्शनों में अकर्म का अर्थ निष्क्रियता तो विवक्षित नहीं है लेकिन फिर भी तिलकजी के अनुसार यदि इसका अर्थ निष्काम बुद्धि से किये गये प्रवृत्तिमय सांसारिक कर्म माना जाय तो वह बुद्धि संगत नहीं होगा। जैन विचारणा के अनुसार निष्काम बुद्धि से युक्त होकर अथवा वीतरागावस्था में सांसारिक प्रवृत्तिमय कर्म का किया जाना ही सम्भव नहीं। तिलकजी के अनुसार निष्काम बुद्धि से युक्त हो युद्ध लड़ा जा सकता है।[4] लेकिन जैन दर्शन को यह स्वीकार नहीं।[5] उसकी दृष्टि में अकर्म का अर्थ मात्र शारीरिक अनिवार्य कर्म ही अभिप्रेत है। जैन दर्शन की इर्या-पथिक क्रियाएँ प्रमुखतया अनिवार्य शारीरिक क्रियाएँ ही हैं।[6] गीता में भी अकर्म का अर्थ शारीरिक अनिवार्य कर्म के रूप में ग्रहित है (४/२१) आचार्य शंकर ने अपने गीता भाष्य में अनिवार्य शारीरिक कर्मों को अकर्म की कोटि में माना है।

लेकिन थोड़ा अधिक गहराई से विचार करने पर हम पाते हैं कि जैन विचारणा में भी अकर्म अनिवार्य शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त निरपेक्ष रूप

१—आचारांग १/३/२/४, १/३/१/११०—देखिए आचारांग (संतबाल) परिशिष्ट पृष्ठ ३६-३७।

२—गीता ५/७, ५/१२। ३—सूत्रकृतांग १/८/२२-२३।

४—गीता रहस्य ४/१६ (टिप्पणी)।

५—सूत्रकृतांग २/२/१२। ६—गीता (शां०) ४/२१।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

से जनकल्याणार्थ किये जाने वाले कर्म तथा कर्मक्षय के हेतु किया जाने वाला तप, स्वाध्याय आदि भी समाविष्ट है। सूत्रकृतांग के अनुसार जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद रहित हैं, वे अकर्म हैं। तीर्थंकरों की संघ प्रवर्तन आदि लोक कल्याण कारक प्रवृत्तियाँ एवं सामान्य साधक के कर्मक्षय (निर्जरा) के हेतु किये गये सभी साधनात्मक कर्म अकर्म हैं। संक्षेप में जो कर्म राग-द्वेष से रहित होने से बन्धन कारक नहीं हैं वे अकर्म ही हैं। गीता रहस्य में भी तिलकजी ने यही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है—कर्म और अकर्म का जो विचार करना हो तो वह इतनी ही दृष्टि से करना चाहिए कि मनुष्य को वह कर्म कहाँ तक बद्ध करेगा, करने पर भी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता उसके विषय में कहना चाहिए कि उसका कर्मत्व अथवा बन्धकत्व नष्ट हो गया। यदि किसी भी कर्म का बन्धकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जाय तो फिर वह कर्म अकर्म ही हुआ—कर्म के बन्धकत्व से यह निश्चय किया जाता है कि वह कर्म है या अकर्म।[1] जैन और बौद्ध आचार दर्शन में अर्हत के क्रिया व्यापार को तथा गीता में स्थितप्रज्ञ के क्रिया व्यापार को बन्धन और विपाक रहित माना गया है, क्योंकि अर्हत या स्थितप्रज्ञ में राग-द्वेष और मोह रूपी वासनाओं का पूर्णतया अभाव होता है अतः उसका क्रिया व्यापार बन्धन कारक नहीं होता है और इसलिए वह अकर्म कहा जाता है। इस प्रकार तीनों ही आचार दर्शन इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि वासना एवं कषाय से रहित निष्काम कर्म अकर्म है और वासना सहित सकाम कर्म ही कर्म है, बन्धन कारक है।

उपरोक्त आधारों पर से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कर्म-अकर्म विवक्षा में कर्म का चैतसिक पक्ष ही महत्त्वपूर्ण रहता है। कौन सा कर्म बन्धन कारक है और कौन सा कर्म बन्धन कारक नहीं है इसका निर्णय क्रिया के बाह्य स्वरूप से नहीं वरन् क्रिया के मूल में निहित चेतना की रागात्मकता के आधार पर होगा। पं० सुखलालजी कर्म ग्रंथ की भूमिका में लिखते हैं कि साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम नहीं करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप नहीं लगेगा। इससे वे काम को छोड़ देते हैं पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप (बन्ध) से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। यदि कषाय (रागादिभाव) नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन में रखने में समर्थ नहीं है। इससे उल्टा यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता। इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है, वह बन्धक नहीं होता है।[2] ○

१—गीता रहस्य, पृष्ठ ६८४।

२— कर्मग्रन्थ—प्रथम भाग की भूमिका, पृष्ठ २५–२६।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org